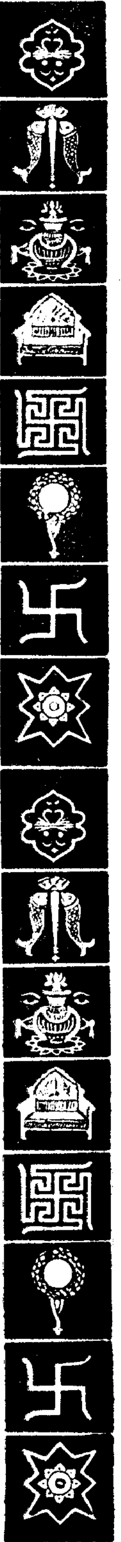
□ डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी, आचार्य, एम० ए०, पी-एच० डी०
(प्रवाचक—संस्कृत विद्यापीठ, दिल्ली)

प्राकृत-वाङ्मय में शब्दालंकार

□



प्राकृत-वाङ्मय

मानव-जन्म की सफलता उसकी वाणी में केन्द्रित रहती है। इसी वाणी के आश्रय से पठित और अपठित सभी अपने भावों का सम्प्रेषण करते हैं। अन्तर इतना ही रहता है कि पठित व्यक्ति अपनी वाणी को विविक्तवर्णाभरण, सुखश्रुति और प्रसन्न गम्भीर पदा के रूप में अभिव्यक्त करके शत्रुओं के भी हृदय को अनुराग-रंजित बना देता है, जबकि अपठित अपने लौकिक कार्य-कलाप को भी कठिनाई से चला पाता है। अतः पठितों की वाणी का सर्वत्र समादर स्वाभाविक है।

संस्कृत भाषा की संस्कार-सम्पन्नता का वैशिष्ट्य दिखाकर प्राकृत भाषा को जनसाधारण की भाषा कहने वाले तथा प्राकृत को ही वास्तविक भाषा कहकर संस्कृत को उत्तरवर्ती, संस्कारित भाषा बताने वालों के विवाद में हम तो केवल एक ही समाधान प्राप्त करते हैं, और वह है—अन्योन्याश्रयात्मकता। जैसे "बीज से वृक्ष तथा वृक्ष से बीज" में किसकी प्राथमिकता है? इसका उत्तर 'अन्योन्याश्रय' है, वैसे ही इस भाषा के विवाद में भी उपर्युक्त उत्तर ही समाधेय है।

वैसे भी चन्द्रावदातमति कवि राजहंस 'ओजस्वी, मधुर, प्रसाद-विशद, संस्कार-शुद्ध, अभिधा-लक्षणा-व्यजनासंवलित, विशिष्ट रीति, अभिनव अलङ्कृति, उत्तम वृत्त एवं रस-परिपाक से समन्वित अपने वाग्व्यवहार द्वारा किसी भी भाषा को भणिति-गुण से अलंकृत कर ही देते हैं' अतः प्राकृत भाषा में ही रचनाएँ प्रस्तुत कर पूर्व मनीषियों ने अनेकविध आनन्द-प्रद साहित्य की सृष्टि की है।

प्राकृतभाषा का क्षेत्र-विस्तार

भारतीय आर्यभाषा का युग ईसवी पूर्व ५०० से ११०० ईसवी तक माना जाता है। यह युग प्राकृत-भाषाओं का युग था, जिसमें उस काल की सभी जन-साधारण की बोलियाँ आ जाती हैं। संस्कृत भाषा के ध्वनितत्त्व एवं व्याकरण-सम्बन्धी नियमों के परिवर्तन से ये बोलियाँ—पालि, शिलालेखों की प्राकृत, जैन आगमों की अर्धमागधी तथा संस्कृत नाटकों में व्यवहृत प्राकृत पैशाची, महाराष्ट्री, मागधी और शौरसेनी आदि के रूप में यत्र-तत्र साहित्यिक स्वरूप को प्राप्त हुई हैं।

प्रत्येक काल में रचनागत विशेषताओं के आधार पर साहित्य की सृष्टि होती है। तदनुसार प्राकृत भाषा के इस विस्तृत क्षेत्र में जैन आगम, आगमों का व्याख्या-साहित्य, दिगम्बर सम्प्रदाय के प्राचीन शास्त्र, आगमोत्तर जैनधर्म सम्बन्धी साहित्य, प्राकृत कथा-साहित्य, प्राकृत चरित साहित्य, प्राकृत काव्य-साहित्य, संस्कृत नाटकों में प्रयुक्त प्राकृत साहित्य, व्याकरण, छन्द, कोष तथा अलंकार ग्रन्थों में प्रयुक्त प्राकृत, उपदेश एवं सुभाषितों के रूप में प्रयुक्त प्राकृत तथा शास्त्रीय प्राकृत-संहिता का समावेश होता हैं।

शब्दालंकारों के सर्वसामान्य प्रयोग का दर्शन इन सभी वर्गों में किसी-न-किसी रूप में मिल ही जाता है, किन्तु जिन स्वरूपों को कुछ महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है उनमें प्राकृत काव्य-साहित्य की प्राथमिकता है। गद्य-साहित्य में ललित वर्णविन्यास—जो कि अनुप्रास के भेद-विभेदों में अनेकत्र उपलब्ध होता है, वह तथा श्लेष अलंकार जो प्राकृत के संस्कृत-रूपों की विविधता के कारण बहुधा अर्थवैविध्य को प्रकट करता है, वह प्रचुर मात्रा में सुलभ है।

रचनाओं का वैविध्य

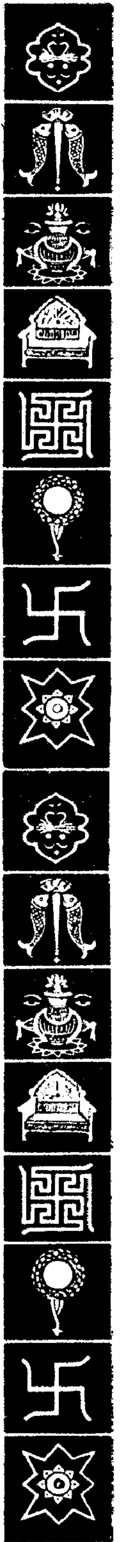
साहित्य परमात्मा के विराट् स्वरूप के समान ही अनेक आश्चर्यमय रूपों का आगार है। जैसे गीता में अर्जुन ने विराट् रूप का दर्शन करते हुए कहा था कि—'हे देव, मैं आपके शरीर में सभी भूतसघ, ब्रह्मा, विष्णु, शिव, ऋषि, सर्प आदि देखता हूँ। आपके इस शरीर के अनेक हाथ, मुख और आँखें हैं। इसका कोई आदि, मध्य और अन्त नहीं दिखाई देता है। इसी में समस्त देव, गन्धर्व, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच आदि तथा रुद्र, आदित्य, वसु, अश्विनीकुमार प्रभृत्ति समाये हुए हैं।[1] इत्यादि कथन के अनुरूप ही साहित्य में भी विश्व में प्रचलित सभी कथन-प्रकार व्याप्त हैं।[2]

साहित्य का अर्थ अत्यन्त व्यापक है किन्तु आलकारिकों ने इसे शब्दार्थ के सहभाव में संकुचित कर लिया है। महाराज भोजदेव ने इसी सहभाव को बारह प्रकारों में विभक्त माना है, जिनमें ग्यारहवां विभाग '**अलंकार-योग**' भी है। यह अलंकार-योग गद्य और पद्य में निबद्ध समस्त वाङ्मय

---

१. पश्यामि देवाँस्तव देव देहे सर्वाँस्तथा भूतविशेष सङ्घान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगाँश्च दिव्यान् ॥१५॥
—से ३१ वें पद्य तक श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय ११ द्रष्टव्य।

२. वक्रोक्ति जीवितकार कुन्तक ने 'साहित्य' की परिभाषा इस प्रकार दी है—
मार्गानुगुण्यसुभगो माधुर्यादिगुणोदयः।
अलङ्करण-विन्यासो वक्रतातिशयान्वितः॥
वृत्तौचित्य मनोहारि रसानां परिपोषणम्।
स्पर्धया विद्यते यत्र यथास्वमुभयोरपि॥
सा काप्यवस्थितिस्तद् विदानन्दस्पन्द सुन्दरा।
पदादिवाक्परिस्पन्दसारः 'साहित्यमुच्यते'॥



में दृष्टिगोचर होता है। गद्य के मुक्तक, वृत्तगन्धी, उत्कलिकाप्राय अथवा चूर्णक में अथवा पद्य के विविध-वृत्तनिबद्ध प्रकारों में सर्वत्र अलंकारों का समायोजन अपनी आभा बिखेरने में कभी पीछे नहीं रहा है।

अलङ्कारों का महत्त्व

साहित्यकारों ने अलङ्कार-चिन्तन से पूर्व किस विधा का चिन्तन किया होगा? यह कह सकना कठिन है, क्योंकि साहित्यशास्त्र के आदि चिन्तकों ने इस सम्बन्ध में अपना कोई स्वतन्त्र विवेचन न देकर सम्प्रदाय विशेष का ही अवलम्बन लिया है। कहा जा सकता है कि वेदों में—**'रसो वै सः'** **'रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति'** आदि मन्त्र पदों की उपलब्धि होने से रस ही सर्वप्रथम साहित्य का मूल है, तो यह उचित नहीं। वहीं वेद-मन्त्रों में—**'हविष्मन्तो अरङ्कृताः'** ऋग्वेद १/४/१४/५, **'सोमा अरङ्कृताः, अलङ्-करिष्णुमयज्वानम्'** तथा शतपथ में—**'मानुषोऽलङ्कारः'** इत्यादि पाठ आते हैं—जो अलङ्कारों के पक्ष में रस की अपेक्षा स्वयं का महत्त्व अभिव्यक्त करते हैं।

साहित्यशास्त्रों में अलङ्कारों के वैशिष्ट्य को लक्ष्य में रखकर बहुधा कहा गया है कि—**'न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्**[3]; **काव्यं कल्पान्तरस्थायि, जायते सदलङ्कृति**[4], **काव्यशोभा-करान् धर्मान्लङ्कारान् प्रत्यक्षते**[5] **काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः। तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः**[6], **सालङ्कारस्य काव्यता**[7], इत्यादि अनेक उक्तियों से प्रेरित होकर ही तो महाकवि जयदेव ने—

> **"अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृती।**
> **असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती॥"**[8]

अनलङ्कृत काव्य को काव्य मानने में भी आपत्ति की है। अतः हृदय के ओज की अभिव्यक्ति, विचारों की परिपुष्टि, शब्दमाधुर्य की सृष्टि तथा मानसिक चित्रों की स्पष्टता के लिए अलङ्कारों की स्थिति अनिवार्य मानी गई है।

शब्दालङ्कार : : एक अविभाज्य अङ्ग

विवेचनशील मानव ने वैज्ञानिक प्रक्रिया के माध्यम से वस्तु के वास्तविक स्वरूप को परखने का पर्याप्त प्रयास किया है। अलङ्कार शास्त्र के आचार्य भी अलङ्कारों का वैज्ञानिक-विभाजन या वर्गीकरण करने में तत्पर रहे। परिणामतः अलङ्कार के प्रमुख तीन भेद—'(१) शब्दगत, (२) अर्थगत और

---

३. काव्यालङ्कार—(भामह) १/१३।
४. वही १/१६।
५. काव्यादर्श—(दण्डी) २/१।
६. काव्यालङ्कार सूत्र—(वामन) ३/१/१ तथा २।
७. वक्रोक्तिजीवित—१/६।
८. चन्द्रालोक—१/८।

(३) उभयगत' किये गये हैं।[९] इनमें भी शब्द के सौष्ठव को सर्वसाधारण के समक्ष सरलता से उपस्थित कर अर्थज्ञान के लिए प्रेरित करना तथा वर्णकौतुक के आधार पर श्रुतिमाधुर्य से आकृष्ट करने का कार्य शब्दालङ्कार पर ही निर्भर रहा है। 'काव्य यदि एक कला है तो उस कला का रूप शब्दालङ्कार ही है' इस दृष्टि से शब्दालङ्कार के विभिन्न रूप प्रस्तुत हुए और उनकी इतनी व्यापकता हुई कि कोई भी शब्द-शिल्पी इससे बच नहीं पाया। इसकी परिधि में प्रमुखतः चार बातें, जो कि भाषा के सौन्दर्य को बढ़ाने में अत्यधिक अपेक्षित होती हैं, उन—(१) स्वर और व्यंजनों की योजना, (२) शब्द-संघटना, (३) पद अथवा वाक्य व्यवस्था एवं सुसज्जित विन्यास तथा (४) अर्थ सौन्दर्य अथवा चमत्कार का सन्निवेश—का समावेश आवश्यक माना गया है और यही कारण है कि शब्दालङ्कार काव्य का एक अविभाज्य अङ्ग बन गया।

शब्दालङ्कारों की संख्या

पूर्वाचार्यों ने अलङ्कार मात्र के लिए कहा है कि—'वाणी की अलङ्कार-विधि विस्तृत है[१०], अलङ्कारों की सृष्टि तो आज भी हो रही है, अतः समस्त अलङ्कारों की गणना कौन कर सकता है?'[११] इसके अनुसार शब्दालङ्कार भी मूलतः (१) **अनुप्रास**, (२) **यमक**, (३) **पुनरुक्तवदाभास**, (४) **वक्रोक्ति**, (५) **श्लेष** तथा (६) **चित्र**—इन छह प्रकारों में विभक्त होकर भी प्रत्येक के अनेकानेक भेदोपभेदों के कारण अनन्तता को प्राप्त करता है। आज भी इसके भेद—प्रकारों में नये-नये स्वरूपों का समावेश हो रहा है।

यह अलङ्कार वस्तुतः अपनी मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया के कारण अनचाहे मन पर भी प्रभाव जमाता रहता है। तभी तो महाकवि जगद्धर ने '**स्तुतिकुसुमाञ्जलि**' में कहा है कि—

शब्दार्थमात्रमपि ये न विदन्ति तेऽपि,
यां मूर्च्छनामिव मृगाः श्रवणैः पिबन्तः।
संरुद्ध-सर्वकरणप्रसरा भवन्ति,
चित्रस्थिता एव कवीन्द्रगिरं नुमस्ताम् ॥ ५/१७ ॥

ऐसी कवीन्द्रों की वाणी में जो नाद-सौन्दर्य अन्त्यानुप्रासनिबद्ध मधुराक्षर-संनिवेश, संगीतलयलहरी और वर्ण-मैत्रीरूप झंकृति का ही नाम शब्दालङ्कार है।

प्राकृत भाषा का साहित्य

वैसे तो प्राकृत भाषा में निबद्ध साहित्य की परम्परा अति प्राचीन है, किन्तु महाकाव्य के रूप में उपलब्ध प्रथम कृति '**सेतुबन्ध**' महाकवि प्रवरसेन की मानी जाती है; पाँचवीं शती में निर्मित यह काव्य

---

९. शब्दार्थोभय भूयिष्ठ भेदात् त्रेधा तदुच्यते। ४/२५ सरस्वती कण्ठाभरण।
१०. गिरामलङ्कारविधिः सविस्तरः।—काव्यालङ्कार—भामह, ३-५८।
११. ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान् कार्त्स्न्येन वक्ष्यति।—काव्यादर्श—दण्डी, २/१।



तत्कालीन गुप्त और वाकाटक नृपतियों के प्रशासनिक महत्त्व एवं व्यापारिक उन्नति के कारण संस्कृत-वाङ्मय के साथ-साथ प्राकृत-वाङ्मय में जो उत्क्रान्ति आयी थी, उसका प्रतीत बन गया है। इस काव्य में भाव एवं अभिव्यंजना पक्ष को सन्तुलित रखते हुए रामकथा के वर्णन में अनुप्रास, यमक और श्लेषालंकार को पर्याप्त स्थान मिला है। इसी शती में महाकवि भारवि का किरातार्जुनीय भी लिखा गया था। अतः उसकी रचना का तथा तत्कालीन रचना-पद्धति का इस काव्य पर बहुत प्रभाव पड़ा है। प्राकृत-साहित्य में सेतुबन्ध-काव्य अपने ढंग का एक अनूठा काव्य है।

महाराष्ट्री प्राकृत में रचित यह काव्य **'रावणवध'** अथवा **'दशमुखवध'** नाम से भी प्रख्यात है। महाकाव्यों की परम्परा में प्रथम होने के कारण उत्तरवर्ती न केवल प्राकृत के कवियों ने अपितु संस्कृत-काव्यकारों ने भी श्री प्रवरसेन का नाम बड़े आदर से लिया है।

इनके पश्चात् नवीं शती में श्री जयसिंह सूरि ने **'धर्म्मोपदेशमाला विवरण'** की रचना की। श्रीसूरि अलङ्कार-शास्त्र के अच्छे पण्डित थे। अतः इस ग्रन्थ में उन्होंने अनुप्रासादि शब्दालङ्कारों के साथ-साथ चित्रालङ्कार को अधिक प्रश्रय दिया है। 'प्रश्नोत्तर, पादपूर्ति, वक्रोक्ति, गूढ़ोक्ति' आदि के अतिरिक्त पुष्पचूला की कथा में विभिन्न भाषा के 'प्रश्नोत्तरों' का प्रयोग भी किया है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, पैशाची और मागधी भाषा में 'मध्योत्तर, बहिरुत्तर, एकालापक, गतप्रत्यागत' नामक चित्र-भेदों का प्रयोग इनकी अपनी विशेषता है। उदाहरणार्थ देखिये—

कां पाति न्यायतो राजा विश्रसा बोध्यते कथम्।
टवर्गे पञ्चमे को वा राजा केन विराजते॥
धरणेंदो कं धारेइ केण व रोगेण दोब्बला होंति।
केण व रायह सेमान, पडिवयणं 'कुञ्जरेणे' ति॥

यहाँ संस्कृत और प्राकृत दोनों का एक ही उत्तर—**'कुञ्जरेण'** कहा गया है। यथा—(१) कुं-पृथिवीम्, (२) जरेण-वृद्धेन, (३) ण, (४) कुञ्जरेण, (५) कुं, (६) जरेण-वृद्धावस्थया, (७) कुञ्जरेण। इत्यादि।

इसी प्रकार जिनेश्वरसूरि के शिष्य धनेश्वरसूरि (सन् १०३८) ने **'सुरसुन्दरी-चरिय'** का निर्माण किया, जिसमें क्रीड़ा-विनोद के अवसर पर 'प्रश्नोत्तर-चित्र' का उपयोग किया है। संस्कृत की अपेक्षा प्राकृत को सहज-प्राप्त सौविध्य के आधार पर संस्कृत का एक शब्द प्राकृत में तीन चार अर्थों का बोधक बन जाता है, क्योंकि उसका रूप संस्कृत में विभिन्न रूपों में बन जाता है। जैसे 'ससंक' शब्द का संस्कृत रूप 'शशाङ्क' और 'सशङ्क' सहज हो सकता है।

१२वीं शती के आरम्भ में आचार्य हेमचन्द्र ने **'द्वयाश्रय-काव्य'** की रचना की थी। जिसमें कुमारपाल का चरित्र और सिद्ध-हैमव्याकरण के नियमों का ज्ञापन किया है तथा इसी के द्वितीय भाग में प्राकृत, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका-पैशाची और अपभ्रंश के व्याकरण का समन्वय श्लेष अलङ्कार के आश्रय से करते हुए कुमारपाल का वर्णन किया है।

इसी प्रकार की एक अन्य रचना वररुचि के **'प्राकृत प्रकाश'** और त्रिविक्रम के **'प्राकृत व्याकरण'** के विषयों को स्पष्ट करने के लिए **'सिरिचिंधकाव्य'** की निर्मिति कवि सार्वभौम श्रीकृष्ण लीलाशुक ने की है। इस कवि का अपर नाम 'गोविन्दाभिषेक' भी है। इसकी रचना कवि केवल नौ सर्गों तक ही कर पाया था, अतः शेष चार सर्गों की रचना इसके टीकाकार श्री दुर्गाप्रसाद यति ने की है। इसमें कुछ आकार-चित्रों को स्थान मिला है।

जगच्चन्द्रसूरि के शिष्य देवचन्द्रसूरि (सन् १२७० ई०) ने **'सुदंसणाचरिय'** की रचना में अध्ययन-शाला से पढ़कर आई हुई राजकन्याओं से उनकी परीक्षा के निमित्त **'कूट-प्रश्न'** किये हैं, जो **'गूढ़चित्र'** के उदाहरण हैं। सुमतिसूरि (१४वीं शती) ने **'जिनदत्ताख्यानद्वय** की तथा रत्नशेखरसूरि के शिष्य हेमचन्द्र (सन् १३७१ ई०) ने **'सिरिवाल-कहा'** की रचना की है। इनमें प्रहेलिकाओं तथा समस्यापूर्तियों को प्रश्रय मिला है। श्री जयवल्लभ द्वारा संगृहीत **'वज्जालग्गं'** में अनुप्रासादि शब्दालङ्कारों का पर्याप्त विकास दिखाई देता है। यथा—

कह सा न संभलिज्जइ, जा सा निसास सोसिसा सरीरा।
आसासिज्जइं सासो जाव न सा सा समप्पंति ॥

यहाँ मूलभाव को अनुप्रास और यमक की योजना से व्यक्त किया गया है।

यमककाव्यों की परम्परा का पोषण करते हुए श्रीकण्ठ कवि ने **'सौरिचरिय'** नामक काव्य की रचना द्वारा एक अभिनव प्रयास किया है। इसकी प्रत्येक गाथा में श्रीकृष्ण के चरित्र का चित्रण करते हुए 'यमकालङ्कार' का आश्रय लिया है। यथा—

रअ रुइरंगं ताणं घेत्तूण व अंगणंमि रंगंताणं।
चुंबइ माआमहिआ बल-कण्हाणं मुहाई माआमहिआ ॥

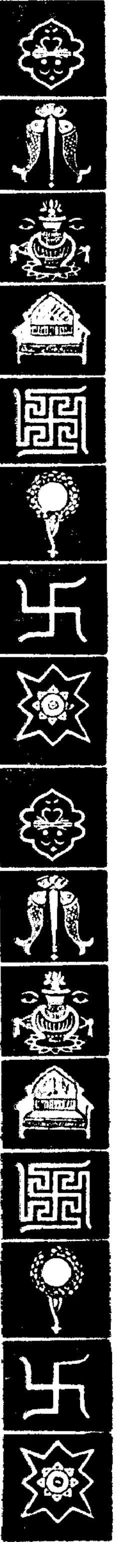
यहाँ धूलि-धूसरित अङ्गवाले, आँगन में रेंगते हुए बलदेव और कृष्ण को उठाकर पूजनीय माता यशोदा उन्हें चूमने लगीं और वह माया के वश में हो गईं। यह वर्णन बड़े ही प्रासादिक ढंग से हुआ है तथा 'पादान्तयमक' की योजना भी उत्तम हुई है। वहीं एक अन्य पद्य इस प्रकार है—

जो णिच्चो राअंतो रमावई सोविगव्व चोराअंतो।
वह बहु वद्धो वंतो सद्दोव्व ठिइच्चुओ अबद्धोसंतो ॥

यहाँ 'जो कृष्ण नित्य शोभा को प्राप्त होते हुए, गायों के दूध की चोरी करते हुए व्रज-वनिता यशोदा के द्वारा ओखली से बाँध दिये गये थे, फिर भी वे शान्त रहे, मर्यादा से च्युत शब्द की भाँति वे अबद्ध ही रहे।' इस कथन के साथ-साथ पूर्वार्ध और उत्तरार्ध में 'अन्त्ययमक' का निर्वाह दर्शनीय है।

चित्रालङ्कारमय प्राकृतस्तोत्रसाहित्य

चित्रालङ्कार वर्णादि को आकार में लिखे जाते और वर्णों की विभिन्न आवृत्तियों के आधार पर स्फुरित होते हैं। शब्दालङ्कार के अन्य भेदों का जहाँ विभिन्न रूप से विकास देखा जाता है, वहीं इस भेद की भी विस्तृति आश्चर्यजनक रूप में हुई है। वाग्विकल्प के जो अनन्त प्रकार हैं, उनका अभिनव रूप इस



विधा में मुखरित हुआ है। स्तुति-स्तोत्ररूप वर्ण्यतत्त्व, सर्वजनसुलभ प्राकृत-भाषा और चित्रालङ्कार इन तीनों का एक अपूर्व संगम होने से प्राकृत-वाङ्मय का भाण्डार कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण बन गया है। इस प्रकार का साहित्य पर्याप्त उपलब्ध है, उसमें से उदाहरण के रूप में कुछ स्तोत्रों का परिचय यहाँ दिया जा रहा है।

छठी शताब्दी के निकट महर्षि नन्दिषेण ने **'अजियसंति-थय'** नाम से एक चित्रस्तोत्र की रचना की। इस स्तोत्र में विविध छन्दों का प्रयोग हुआ है तथा चित्र-बन्धों की दृष्टि से—(१) रत्नपद, (२) तालवृन्त, (३) भृङ्गार, (४) व्यंजन, (५) स्वस्तिक, (६) मत्स्ययुगल, (७) दर्पण, (८) श्रीवत्स, (९) वापिका, (१०) दीपिका, (११) मंगल-कलश, (१२) शरावसम्पुट, (१३) तिलकरत्न, (१४) भद्रासन, (१५) नागपाश, (१६) धूपदानी, (१७) रत्नमाला, (१८) चतुर्दीपिका, (१९) मन्थान, (२०) कुम्भ, (२१) गदा, (२२) मयूरकला, (२३) अश्व, (२४) मयूर, (२५) हल, (२६) अष्टारचक्र, (२७) मुकुट, (२८) वीणा, (२९) नरधनुष, (३०) वृक्ष, (३१) ध्वज, (३२) शिखर, (३३) त्रिशूल, (३४) चामर, (३५) सिंहासन, (३६) चतुर्गुच्छ, (३७) कल्पतरु, (३८) अष्टदल-कमल, (३९) मशाल, (४०) नागफणा, (४१) कमल-मालिका तथा (४२) व्यजन-बन्धों की योजना प्राप्त होती है। यद्यपि यह बन्धों की योजना पूर्वाचार्यों द्वारा प्रतिपादित नहीं है किन्तु इसकी भाषागत विशिष्टता के आधार पर मुनिश्री धुरन्धर-विजयजी ने यह प्रयास किया है।[1]

इसी प्रकार जयचन्द्रसूरि के **'पण्ह गब्भ-पंचपरमिट्ठिथवण'** में (१) शृङ्खला जाति और त्रिगत, (२) पञ्चकृत्वोगति, (३) चतुःकृत्वोगति, (४) गतागत एवं द्विर्गत तथा (५) अष्टदल-कमल बन्ध की योजना की गई है।[2] इनके अतिरिक्त निम्नलिखित प्राकृत-स्तोत्र भी अपनी शब्दालङ्कार पोषक और विशेषतः चित्रालङ्कार-मूलक प्रवृत्तियों के कारण अनुशीलनीय हैं—

(१) मन्त्रगर्भ श्रीपार्श्वजिनस्तवन	—रत्नकीर्तिसूरि
(२) मन्त्रगर्भ श्रीपार्श्वप्रभु-स्तवन	—कमलप्रभाचार्य
(३) मन्त्रयन्त्रादिगर्भित श्रीस्तम्भन पार्श्वजिन-स्तवन	—श्रीपूर्णकलश गणि
(४) नवग्रहस्वरूपगर्भ श्रीपार्श्वजिन-स्तवन	—अज्ञातकर्तृक
(५) अष्टभाषामय सीमन्धरजिन-स्तवन	—श्रीजिनहर्ष
(६) अष्टभाषामय सम्यक्त्वरास	—श्रीसंघकलश
(७) षड्भाषामय गौडीपार्श्वनाथ-स्तवन[3]	—श्रीधर्मवर्धन

---

१. यह पुस्तक प्रकाशनाधीन है तथा लेखक ने इसकी व्यवस्था और योजना में भी सहयोग दिया है।

२. यह स्तोत्र बम्बई के 'जैन साहित्य विकास मण्डल' से प्रकाशित 'नमस्कार स्वाध्याय' के प्राकृत-स्तोत्र विभाग में सचित्र मुद्रित है।

३. प्राकृत, मागधी, शौरसेनी, पैशाची, चूलिका-पैशाची, अपभ्रंश और संस्कृत भाषा में निर्मित यह स्तोत्र 'धर्मवर्धन-ग्रन्थावली' 'बीकानेर' में मुद्रित है।

(८) पार्श्वनाथ स्तोत्र (संस्कृत प्राकृत भाषामय) —श्रीसमयसुन्दर

(९) तीर्थङ्कर-चतुर्विंशति-गुरुनामगर्भ-पार्श्वस्तवन, (१०) ईर्यापथिकी-विधिगर्भित पार्श्वनाथ-स्तवन, (११) संस्कृत प्राकृतमय पार्श्वनाथस्तवन, (१२) अल्पत्वबहुत्व विचारगर्भित प्राकृत स्तोत्र, (१३) यमकबद्ध प्राकृत स्तोत्र, (१४) संस्कृत भाषाभिन्नपूर्वार्धोत्तरार्ध श्रीजिनस्तवन—धर्मघोषसूरि, (१५) ओहाणबन्ध (आभाणकबन्ध) जिनस्तोत्र, (१६) संस्कृत-प्राकृतमय श्रीवीरस्तवन, धनपाल (१७) संस्कृत प्राकृतमय आदिदेवस्तवन, रामचन्द्रसूरि, (१८) महामन्त्रगर्भित अजितशान्तिस्तव, धर्मघोष, (१९) नवग्रहश्लेषरूप पार्श्वनाथ लघुस्तव, जिनप्रभसूरि, (२०) मन्त्र-भेषजादि गर्भित युगादिदेवस्तव, शुभसुन्दरगणि, (२१) पंचकल्याणक कलितैक विंशतिस्थानगर्भित—श्रीमल्लिजिनस्तवन, (२२) भोज्यादि-नामगर्भ जिनस्तवन तथा (२३) रसवतीचित्रगर्भ वर्धमानस्तव।

उपसंहार

प्राकृत भाषा की शब्दगुम्फना में अनुरणन की जो मसृणता सहज उपलब्ध हो जाती है तथा पदों की मृदुलता और मांसलता से जो आन्दोलन-माधुरी निखर आती है, वह सचमुच ही सहृदय-हृदयैकगम्य है। यही कारण है कि नाटकों में इस भाषा को सर्वतोभावेन प्रश्रय मिला। कुछ पात्रों के लिए यह भाषा सर्वथा आवश्यक मानी गई। एक काल वह भी आया कि लोकरंजन की भूमिका का निर्वाह करने के लिये संस्कृत भाषा को छोड़ शुद्ध प्राकृत में ही गहन-साहित्य की रचना की जाने लगी। जैन-सम्प्रदाय और उनके आचार्यों ने अपनी साहित्य-साधना का माध्यम प्राकृत भाषा को ही स्वीकार किया। आगमादि समस्त धार्मिक वाङ्मय इसी भाषा में आकलित है तथा उन्हीं ग्रन्थों के महान् दायित्व को चिर-स्थिर रखने के आज भी प्रयास हो रहे हैं।

